प्राक्–औपनिवेशिक भारत में ग्रामीण समुदाय : एक समालोचनात्मक अध्ययन

अनिल कुमार , श्रीमान अंजुल कुमार
शोधछात्र–मध्यकालीन एवं आधुनिक इतिहास विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

प्रस्तावना–:

भारतीय ग्रामीण समुदाय की एक आदर्श स्थिति प्राचीन काल से ही दृष्टिगत होती हैं। प्राक्–औपनिवेशिक काल में भी भारत की 85% जनता गांवों में निवास करती थी। ये स्वपर्याप्त गांव सदियों से ही भारतीय जीवन की मूल आर्थिक इकाई थे जिसकी पुष्टि महात्मा गांधी, कार्लमार्क्स, चार्ल्स मेटकाफ, धुर्ये, शेलवंकर, गाडगिल, ओमेली तथा डी0पी0 मुखर्जी जैसे कई महत्वपूर्ण विद्वानों ने भी अपने लेखन में किया है। इस प्रकार ''ग्राम समुदाय छोटे–2 गणतंत्र है जिन्हें अपने जरुरत की सारी वस्तुएं स्वतः ही अपने यहां मिल जाती हैं और इन्हें विदेशों से सम्बन्धों की कोई आवश्यकता ही नहीं है। जहाँ सबकुछ गतिशील है, वहाँ ये ग्राम समुदाय जैसे अकेले अमर हैं। राजकुल पतित होते रहे, क्रांतियां होती रहीं, हिंदू, मुस्लिम, मराठे, पठान, सिख, अंग्रेज क्रमशः राजसत्ता के मालिक बनते रहे लेकिन ग्राम समुदाय अपनी स्थिति में यथपूर्व बने रहें।''[1] यही नही बल्कि प्रस्तुत शोध विषय में इस अध्ययन को भी सम्मिलित किया गया है कि विभिन्न सकारात्मक प्रवृत्तियों के बावजूद आखिर वे कौन से शूलगुम्फित नकारात्मक तत्व ग्रामीण समुदायों में विद्यमान थे जिनके कारण सदियों से चली आ रही यह चिरस्थाई ग्रामीण समुदाय की व्यवस्था ब्रिटिश सम्पर्क में आते ही पतन की ओर आकृष्ट हो गई, इसके मूल तत्व नष्टप्राय होते चले गये और शीघ्र ही इसने अपनी प्रासंगिकता खो दी।

ग्रामीण समुदाय की विशेषताएं–:

(1) ग्रमीण सम्रदाय एक 'स्वायत्त तथा स्वावलम्बी व्यवस्था' थी। इसमें स्वयत्वता से आशय है कि ग्राम समुदाय अपने उत्पादन व्यवस्था को निर्धारित करने के लिए स्वतंत्र थे। राज्य और

ग्राम के मध्य एक समन्वय था कि राज्य को ग्रामों से अपेक्षित कर मिल रहा था तथा ग्रामों को राज्य द्वारा संरक्षण प्राप्त था जिससे कि वे किसी बाह्य हस्तक्षेप से मुक्त थे। ग्रामीण स्वावलम्बन से तात्पर्य है कि गांव में कृषक और कारीगर उत्पादन अतिरेक के रुप में करते थे जिससे कि ये अपनी अन्य आवश्यकतओं की पूर्ति परस्पर विनिमय–विनियोग के माध्यम से कर सकें। इससे ग्रामीण समुदायों की अधिकतर आवश्यकताएं गांवों में ही पूर्ण हो जाती थी और उन्हें किसी बाह्य सहारे की जरूरत सहसूस नहीं होती थी। इस प्रकार गांव आर्थिक रुप से आत्मनिर्भर थे। स्थानीय श्रम, साधन व उत्पादन का स्थानीय स्तर पर ही उपभोग हो जाता था जिससे के गांव और बाह्य जगत के मध्य व्यापार सम्बंध भी लगभग शून्य ही थे। उन दिनों जो थोड़ा बहुत व्यापार होता था वह केवल लम्बे–2 समयांतराल पर लगने वाले मेलों या गाँवों में नियमित लगने वाली बाजारों के माध्यम से होता था। वाडिया एण्ड मर्चेन्ट कहते हैं कि 'गांव पूर्णतः स्वपर्याप्त थे, कच्चा माल भी समीप ही मिल जाता था। अधिकांश उत्पादित वस्तुओं की खपत गाँव में ही हो जाती थी और जो बचता भी था वह सप्ताह में एक बार होने वाले ग्रामीण मेलों में बेचा जा सकता था।'[2] ब्युकैनन कहते हैं कि गांव के एकरस जीवन में एक मात्र क्रमभंग आकस्मिक विपत्ति, पहाड़ों के पार से भूभक्षी जातियों के आकृमण या सूखा–बाढ़ से उत्पन्न बाधाविध्न द्वारा उत्पन्न हुई।'[3] इस प्रकार यदि प्राकृतिक आपदाओं, आकृमणों तथा मौलिक विपत्तियों को छोड़ दें तो इन ग्रामसमुदायों की संरचना बाह्य दुनिया से मुक्त, अपने समरसतामूलक, स्वायत्त, स्वावलम्बी तथा आत्मनिर्भर चरित्र के साथ सदियों, से ही अविरल रूप से चलती आ रही थी।

(2) ग्रामीण समुदाय की दूसरी विशेषता इनकी 'सामूहिक सहयोग की भावना' के रुप में दृष्टिप्राय है। शेलवंकर महोदय कहते हैं कि गांवों में कई सारे सामूहिक प्रतिबंध और सामूहिक सेवाएं विद्यमान थीं, यथा–नगरपालिका जैसी सेवाएं, पहरा, निगरानी, भूमि सिंचन तथा जलापूर्ति, लुटेरों के विरुद्ध सुरक्षा संगठन, चोरों और जानवरों से खेत बचाने का प्रबंध आदि, जिससे कि गांवों में सामूहिक सहयोग को बढ़ावा मिलता था। इसके अलावा सार्वजनिक चारागाहों और जंगलों पर सबको समान अधिकार मिले हुए थे।[4] इस प्रकार इन प्रवृत्तियों ने ग्रामीण जनमानस को एक–दूसरे से अर्न्तसंम्बंधित कर रखा था।

(3) 'जजमानी प्रथा' भी गाँव की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी, जिसके सम्बंध में विलियम वाइजर लिखते हैं कि गांवों में दो तरह के लोग रहते थे, प्रथम वे लोग जो कृषि से जुड़े थे या कृषि व्यवस्था का संचालन करते थे, दूसरे वे लोग जो कारीगर या शिल्पकार थे। ये दोनों वर्ग एक–दूसरे पर निर्भर थे क्योंकि जहां कृषि से सम्बद्ध वर्ग कारीगर वर्ग को पोषित करता था, वहीं कारीगर वर्ग इन्हें अन्य आवश्यक वस्तुएं उपलब्ध कराता था। इस तरह जजमानी प्रथा काफी सीमा तक विनिमय–विनियोग पर आधारित थी। गांवों में होने वाला उत्पादन विनिमय हेतु गांव की जनता तक ही सीमित था क्योंकि गांव की जनता ही उत्पादन के लगभग सम्पूर्ण भाग का उपभेग कर लेती थी।[5] इस व्यवस्था को कार्ल मार्क्स ने श्रम विभाजन के रुप में भी देखा है।[6]

(4) शेलवंकर कहते हैं कि ग्रामीण समुदायों में व्याक्तियों के बीच केवल विनियम सम्बंध ही नहीं थे बल्कि निजी हैसियत से भी कार्य हुआ करते थे किंतु कारीगरों को भुगतान करने का दायित्व सम्पूर्ण ग्राम समुदाय का था न कि प्रत्येक ग्रहस्थ का प्रथक–प्रथक। प्रत्येक कारीगर को या तो सम्पूर्ण समुदाय की ओर से जमीन का कोई हिस्सा अस्थाई रुप से जोतने–काटने हेतु दे दिया जाता था या फिर फसल काटने पर उसे अनाज की निश्चित राशि दे दी जाती थी। इस प्रकार गांव का कारीगर स्वतंत्र उत्पादक न होकर समुदाय द्वारा नियुक्त जनसेवक जैसा था।[7] लेकिन गाडगिल महोदय कहते हैं कि ग्रामीण प्रथकत्व स्वतः उल्लिखित नहीं है और न यही कोई विशिष्ट तथ्य है कि सभी कारीगर गांवों में ही रहते थे बल्कि भारतीय ग्रामीण समुदाय की विशिष्टता यह थी कि अधिकांश कारीगर पूरे गांव के सेवक होते थे।[8]

(5) ग्रामीण समुदाय में अधिकांश जनसंख्या किसानों की थी तथा सारा गांव जमीन का मालिक होता था। ग्राम पंचायत सम्पूर्ण आबादी का प्रतिनिधित्व करती थी और जोतखण्डों के रुप में जमीन को किसान परिवारों के बीच बांट देती थी। परिवार के सभी सदस्यों के सहयोग तथा आदिम हल–बैल की मदद से प्रत्येक जोतखण्ड में खेती होती थी। कृषक परिवारों को परम्परागत रुप से अपने जोतखण्डों पर पैतृक अधिकार थे। वाडिया और मर्चेण्ट कहते हैं कि हिंदूकाल से ही भूमि सम्पूर्ण ग्राम समुदाय की होती थी, इसे कभी राजा की सम्पत्ति नहीं माना गया।[9] जमीन की पैदावार के अंशमात्र पर ही राजा या उसके प्रतिनिधि

का अधिकार था और यह अंश सारे गांव की ओर से गांव पंचायत देती थी।[10] अन्य ग्रामीण आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु किसानों के अतिरिक्त बढ़ई, लोहार, कुम्हार, जुलाहा, मोची, धोबी, तेली तथा हजाम जैसे मजदूर किस्म के लोग भी रहते थे जोकि कुटीर उद्योग अथवा अन्य माध्यमो से दैनन्दिन जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे।

राजा और प्रजा के मध्य कई वर्ग ऐसे भी थे जो मध्यस्थ के रुप मे कार्यरत थे और राजा उनके माध्यम से कर संग्रह एवं प्रशासन संचालित करता था। कई वर्ग ऐसे थे जिन्हे वसूला गया कर पूरा का पूरा रख लेने का भी अधिकार था। किंतु वास्तविक स्वामी नतो राजा था और न ही मध्यस्थ बल्कि उस पर केवल कृषकों को ही ग्राम पंचायतों के माध्यम से अधिकार व नियंत्रण प्राप्त थे जिसे न कभी राजा ने और न ही कभी मध्यस्थों ने समाप्त करने का प्रयास किया। यह जरुर है कि परस्पर शासकों में या मध्यस्थों में अथवा इनमें से किसी का ग्राम समुदायों से संघर्ष अवश्य हुआ किंतु ये संघर्ष यूरोप की भांति भूमि पर अधिकार को लेकर नहीं थे बल्कि कर वसूलने के अधिकार को लेकर या कर की राशि को लेकर हुए। किंतु इस व्यवस्था का गांवों की सत्ता पर नकारात्मक प्रभाव भी पड़ा क्योंकि जहां इन वर्गों ने कभी भूमि पर अपना हक जमाने की कोशिश नहीं की वहीं इन्होंने कृषि की उन्नति की ओर भी ध्यान नहीं दिया। इनका उद्देश्य गांवों में सत्ता का उपयोग कैसे हो इस पर केंद्रित नहीं था बल्कि इस पर केंद्रित था कि गांवों में सत्ता का उपभोग कैसे हो।[11]

(6) ग्रामीण लोगों का जीवन स्तर मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित रहना भी ग्राम समुदाय की एक बड़ी विशेषता थी, अर्थात् लोगों का खानपान, वेशभूषा, रहन–सहन आदि बहुत ही सीमित था। लोगों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना के अभाव के कारण लोग बहुत ही कम धन और भोजन के साथ जीवन–यापन करते थे। कई विद्वान मानते हैं कि यह सादगी ही ग्राम समुदायों की अपरिवर्तनशील और चिरस्थाई जीवन के रहस्य की कुंजी थी।

(7) ग्राम समुदाय की एक अन्य विशेषता इसमें विघमान जातीय व्यवस्था है। लोगों के खानपान, शादी–विवाह तथा व्यवसाय आदि के दायरे जातीय आधार पर ही तय किए जाते थे। इसका विरोध व्यक्तिगत या सामूहिक किसी भी रुप में नहीं हो सकता था। जाति व्यवस्था जन्म आधारित थी जिसका बदलना नामुमकिन था, इसलिए लोगों का व्यवसाय भी

जन्म से ही तय हो जाता था, जैसे– ब्राह्मण–धर्म, पढ़ाई, लिखाई, पंचाग व ज्योतिष सम्बंधी कार्य, बढ़ई–लकड़ी का कार्य, लोहार–लोहे का कार्य, कुम्हार–मिट्टी के बर्तनो का कार्य, तथा नाई, धोबी, सोनार भी इसी तरह अपने–अपने कार्य करते थे। ग्राम समुदायों में कमकरों का भी एक वर्ग था जो हलखोर का कार्य करते थे और अछूत समझे जाते थें इनमें अधिकांश देश के उन आदिम निवासियों के वंशज थे, जिनको समूल विनष्ट करने के बदले प्राचीन काल में हिंदू समाज ने आत्म सात कर लिया था।[12] यह तथ्य जहां एक तरफ सनातन काल से ही भारतीय समाज की सहिष्णुता व समरसता को प्रदर्शित करता है वहीं यह भी स्पष्ट करता है कि किस प्रकार आदिम जातियां अपने ही मूल देश में उत्पादन का मुख्य आधार स्तम्भ होने के बावजूद भी अछूत बना दी गई।

इस प्रकार ग्रामीण समुदाय में कई ऐसी महत्वपूर्ण विशेषताएं व्याप्त थी। जिससे कि विभिन्न राजनीतिक हलचलों, धार्मिक उथल–पुथल तथा विनाशकारी युद्धों के बावजूद अंग्रेजों के आगमन के पूर्व तक गांव की चिरंतन प्रकृति लगभग अक्षुण्य बनी रही। किंतु जब हम ग्राम समुदाय के दूसरे पहलू पर दृष्टिपात करते हैं तो इसमें कई दोष भी उभरकर सामने आते हैं जिन्होंने समय के अनुसार बदली परिस्थितियों में गांवों की संरचना को विनष्टीकरण की ओर अग्रसर किया।

ग्रामीण समुदाय के आलोचनात्मक पहलू–:

(1) अंग्रजों के आने के पूर्व ही ग्रामीण समुदाय में शोषण एवं असमानता के लक्षण विद्यमान थे। इसमें भूमि से सम्बंधित वर्ग जजमानो का शोषण करता था क्योंकि उत्पादन के साधनों पर भू–स्वामियों का अधिकार होता था। कारीगरों की स्थिति एक ग्राम सेवक की भांति होती थी जिन्हें स्वतंत्र उत्पादन एवं स्वतंत्र विकृय का अधिकार नहीं था, हां ग्राम उपभोग के बाद यदि कोई अधिशेष उत्पादन बचता था तो वह ग्राम बाजारों में बेंच सकते थे। इनके उद्यम और वस्तुओं पर भू–स्वामियों का नियंत्रण था जोकि इसके शोषण कारी स्वरुप को स्पष्ट करता है।

(2) ग्रामीण समुदाय में कृषक वर्ग में भी समानतापूर्ण स्थिति नहीं थीं बल्कि कृषक वर्ग भी कई स्तरों में बंटा था, यथा (i) बड़े–बड़े भू–स्वामी जो बहुत बड़ी–2 मिल्कियतों के मालिक थे और मजदूरों के माध्यम से खेती करवाते थे, (ii) ऐसे कृषक जो स्वयं की जमीन पर खेती करते थे, 'खुदकास्त' कहलाते थे, (iii) कुछ ऐसे कृषक समुदाय थे जो दूसरे गांवों में जाकर दूसरों की जमीन पर खेती करते थे, इन्हें 'पहीकाश्त' कहा जाता था। इस प्रकार कृषक वर्ग में भी शोषण एवं वैमनस्यता के लक्षण विद्यमान थे।

(3) ग्राम समुदाय की एक विशेषता यह भी रही है कि यहां लोगों का व्यवसाय पूर्ण रुप से उनकी जातियों पर निर्भर था। जातियों की भांति व्यवसाय भी अनुवांशिकता के सिद्धांत पर आधारित थे। आर्थिक जीवन तथा विनियम ग्रामीण सीमाओं में ही संकुचित था। शादी, व्याह व तीर्थाटन के अतिरिक्त यात्रा का भी न तो कोई औचित्य था और न ही आवागमन के साधनों के विकास हेतु कोई उद्दीपन।[13] इसके अतिरिक्त ग्राम समुदाय की जाति व्यवस्था में भी कई अन्य कमियां भी विद्यमान थीं। इसने जहां समाज में भेदभाव और परस्पर वैमनस्यता को जन्म दिया, वहीं इरफान हबीब बताते हैं कि इसने उत्पादन पद्धति को भी जातिगत बना दिया। इसमें व्यक्तियों का जन्मजात अपने जातिगत पेशे से बंध जाने के कारण कुशल मानव संधाधन का समुचित प्रयोग सम्भव नहीं हो पाता था जिसका नकारात्मक प्रभाव उत्पादन व्यवस्था एवं श्रृजनात्मक शक्तियों पर भी पड़ता था।

(4) गांवों में कृषि और उद्योग की तकनीक भी निम्न स्तर की थी। व्युकैनन कहते हैं कि कृषि और विनिर्माण के लिए मात्र हस्तचालित औजार ही प्रचलित थे। वायु और जलचालित यंत्रों, चक्कियों का भी शायद ही कभी प्रयोग हुआ हो। हंसिया और हल, झेनी और आरा, चरखा और हथकरघा अधिक समय में कम सामान तैयार करते थे, लेकिन पीढ़ियों से इसी से काम चलाया जा रहा था। अतः गावों में आदिम कृषि और उद्योग पर आधारित आर्थिक जीवन निम्नस्तरीय तथा स्थिर प्राय ही रहा। फलस्वरुप श्रम की उत्पादन शक्ति भी सीमित रही और क्रूर तथा लोभी सरकारों को लगान देने और दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद जनसाधारण के पास न तो उत्पादन का कोई अधिशेष ही बचता था और न भौतिक तथा सांस्कृति जीवन के उच्चस्तरीय विकास के लिए समय।[14]

(5) ग्राम समुदाय के द्वारा सामाजिक–आर्थिक विनिमय में कमी तथा यातायात के साधनों के अभाव के कारण बौद्धिक जागृति नहीं आई। अतः किसी भी आपदा या फसल के नष्ट होने की स्थिति में कोई बाह्य सहायतान मिल सकने के कारण इनमें प्रकृति पर निर्भरता तथा धार्मिक रहस्यवाद का उद्भव हुआ, जिसने कहीं–न–कहीं रुढ़िवादिता तथा अंधविश्वास को प्रश्रय देकर समाज को गतिहीनता की ओर अग्रसर किया। इसके साथ ही ग्रामीण समुदाय में व्याप्त जिज्ञासा के अभाव ने इन्हें सदियों से विद्यामान व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ नया सीखने या करने को भी उत्सुक नहीं किया और ये ग्रामीण समुदाय स्वयं को ही परिपूर्ण समझते रहे जिसके कारण ये समय के अनुसार बदली परिस्थितियों से सामंजस्य विठाकर गतिशील न रह सके।

(6) गांवों की मुख्य सामाजिक संस्थाएं अपनी समष्टि में व्यक्तिवादी न होकर समुदायवादी थी। मूल सामाजिक इकाई व्यक्ति न होकर परिवार था। समाज में पारस्परिक सम्बंधों को व्यवस्थापित करने, जातीय व्यवहार, शादी–विवाह, खानपान वेशभूषा, पेशा आदि के सम्बंध में व्यक्ति पर जाति, परिवार तथा समुदाय का वैचारिक नियंत्रण था तथा व्यक्ति को इनके द्वारा स्थापित आदर्शों का अनुसरण करना पड़ता था। समष्टि की सदस्यता के अतिरिक्त जैसे व्यक्ति का कोई अस्तित्व ही नहीं था।[15] 18वीं सदी के अंत में भी भारतीय समाज, मूलतः देहाती इलाको में परिवार, जाति तथा पंचायतों के प्रति तथा शहरी इलाकों में व्यापार जन्य नियमो तथा कमकर संगठनों के प्रति उत्तरदायी था।[16] इरफान हबीब बताते हैं कि इस समय गाँवों में व्यक्तिगत सम्पत्ति की अवद्यारणा भी नहीं थी जिससे कि लोगों में प्रतिस्पर्द्धात्मक क्षमता और श्रृजनात्मक शक्तियों का समुचित विकास न हो सका और समाज में अकर्मण्यता की भावना भी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रही तथा लोग परम्परागत ढ़र्रे से अलग सोंचने को प्रेरित न हो सके।

(7) ग्रामीण समुदायों में 'राष्ट्रीय भावना का अभाव' भी इनकी एक महत्वपूर्ण कमी थी। वस्तुतः राष्ट्रीय चेतना के लिए सामाजिक–आर्थिक समरसता, राजनीतिक सम्बद्धता, प्रशासनिक एकीकरण, आवागमन के साधनों का विकास, शैक्षिक व बौद्धिक परिवेश आदि की समुचित आवश्कता होती है जबकि प्राक् औनिवेशिक भारत में इन तत्वों का सर्वथा अभाव

था। शायद इसी का परिणाम था कि भारत में आम जनमानस में राष्ट्रीय चेतना का संचार तब तक न हो सका जब तक कि जाने या अनजाने में औपनिवेशिक काल में इन तत्वों का विकास सम्भव न हो सका।

इस प्रकार निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि प्राक्–औपनिवेशिक ग्राम समुदायों में विद्यमान जहाँ कई महत्वपूर्ण विशेषताओं ने इसे अत्यंत सहजता के साथ सम्पोषित करते हुए चिरंतन काल तक स्थाई रखा वहीं इसके अंतर्गत व्याप्त कई मूलभूत कमियों ने विपरीत परिस्थितियों में ग्रामीण समुदाय की गतिशीलता को बाधित किया और यह व्यवस्था कमजोर होती गई तथा अंग्रेजों के आगमन के बाद उन्होंने इसमें पैठ बनाकर इसकी प्रासंगिकता को नष्ट कर दिया।

संदर्भ सूची–:

(1) घुर्ये, जी0 एस0, कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया (1932), पृष्ठ 24

(2 वाडिया एण्ड मर्चेण्ट, अवर इकनॉमिक प्राब्लम (1943),पृष्ठ 234

(3) ब्युकैनन, डी0 एच0, दि डेवलपमेन्ट आफ कैपिटलिस्ट इन इण्डिया (1914),पृष्ठ 15

(4) शेलवंकर, के0 एस0, प्राब्लम आफ इण्डिया (1940), पृष्ठ 25

(5) गाडगिल, डी0 आर0, दि इण्डस्ट्रियल इवोल्यूसन आफ इण्डिया इन रीसेन्ट टाइम्स (1933), पृष्ठ 10–12

(6) मार्क्स, कार्ल, आन इण्डिया, पृष्ठ 391

(7) शलवंकर, के0 एस0, वही, पृष्ठ 124–125

(8) गाडगिल, डी0 आर0, वही, पृष्ठ 10

(9) वाडिया एण्ड मर्चेण्ट, वही, पृष्ठ 234

(10) वही,पृष्ठ, 234

(11) शेलवंकर, के0 एस0, वही, पृष्ठ 102

(12) वाडिया एण्ड मर्चेण्ट, वही, पृष्ठ 30

(13) देसाई, ए0 आर0, भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ 10–11

(14) ब्युकैनन, डी0 एच0 वही, पृष्ठ 15

(15) ओ, मेली, माडर्न इण्डिया एण्ड दि वेस्ट (1941), पृष्ठ 355

(16) मुखर्जी, डी0 पी0, माडर्न इण्डियन कल्चर (1942), पृष्ठ 1–2